



ISSN Print: 2394-7500
 ISSN Online: 2394-5869
 Impact Factor: 5.2
 IJAR 2018; 4(12): 123-126
 www.allresearchjournal.com
 Received: 23-10-2018
 Accepted: 26-11-2018

डॉ. तीर्थानन्द मिश्र

एसोसियेट प्रोफेसर, राजकीय मीरा
 कन्या महाविद्यालय, उदयपुर,
 राजस्थान, भारत

प्रस्थान त्रयी में आत्मा

डॉ. तीर्थानन्द मिश्र

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन परम्परा में वेदान्त दर्शन शीर्षस्थ है। इस दर्शन की विचार गंगा अविरल गति से वैदिक काल से उद्भूत होकर प्रवाहित होती रही हैं। भारतीय दर्शन प्रायः अपरोक्षानुभूति या आत्मसाक्षात्कार को प्रधान व बौद्धिक चिन्तन को गौण मानता है। 'आत्मानं विद्धि' यह भारतीय दर्शन का उद्घोष है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक रूप त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं अखण्ड आनन्द की प्राप्ति भारतीय दर्शन का लक्ष्य है। श्रवण, मनन व निदिध्यासन इस लक्ष्य प्राप्ति के त्रिविध साधन है। इस 'लक्ष्यप्राप्ति' हेतु प्रस्थानत्रयी में प्रतिपादित विचार नितान्त सहयोगी हो सकता है।

प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत उपनिषद्, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र का समावेश है। इन तीनों में ही आत्मा के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालने से पूर्व 'प्रस्थान' शब्द का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। त्रिविध दुःखों से सन्तप्त जीवात्मा का परमात्मा तक की जीवन यात्रा को 'प्रस्थान' कहा जाता है और इस जीवनयात्रा पर उक्त तीनों ग्रन्थों में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। प्रस्थानत्रयी में उपनिषद् श्रुति प्रस्थान, ब्रह्मसूत्र तर्क प्रस्थान तथा भगवद्गीता को स्मृति प्रस्थान कहा गया है। उपनिषद् को श्रुति प्रस्थान कहने के पीछे भाव यह है कि इसमें 'वेदवाक्यों' के आधार पर परमात्मप्राप्ति का प्रतिपादन है जबकि ब्रह्मसूत्र में तर्क-वितर्क के आधार पर आत्मपरक चिन्तन प्रस्तुत किया गया है वहीं गीता में 'धर्मशास्त्र' के आधार पर जीवात्मा के परमात्मा तक की जीवन यात्रा का चित्रण हुआ है। प्रस्थानत्रयी में उपनिषद् मूल प्रस्थान है। ब्रह्मसूत्र उपनिषद् वाक्यों का सूत्र रूप में संकलन है जबकि गीता को उपनिषद् रूपी गायों से गोपालनन्दन श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को बछड़ा बनाकर सुधीजनों के पानार्थ दुहा गया अमृत रूपी दूध कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

उपनिषद् को भारतीय दर्शनों का मूल स्रोत माना जाता है। भारतीय दर्शनों की कोई ऐसी विचारधारा नहीं है जिसका उद्गम उपनिषद् में न हो। सामान्य रूप से उपनिषद् मंत्रब्राह्मणात्मक वेद का अन्तिम भाग होने के कारण वेदान्त संज्ञा से जानी जाती है। उपनिषद् शब्द मुख्य रूप से 'ब्रह्मविद्या' का वाचक है और गौण रूप से ब्रह्मविद्या प्रतिपादक ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त होता है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 मानी गई है किन्तु शंकराचार्य के भाष्य के आधार पर इशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यादि ग्यारह उपनिषदों को ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। उपनिषद् में ज्ञान को प्रधान तथा कर्म और उपासना को गौण माना गया है। कर्म और उपासना चित्तशुद्धि व चित्त की एकाग्रता हेतु परमावश्यक है क्योंकि शुद्ध व एकाग्रचित्त में आत्मतत्त्व का दिव्य प्रकाश प्रकट हो सकता है।

समस्त उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का विवेचन विशद् रूप में मिलता है। उपनिषदों के आत्मस्वरूप विवेचन को भली-भाँति आत्मसात् करने पर यह स्पष्ट होता है कि अलग-अलग दृष्टान्तों का सहारा लेते हुए सभी ने यही प्रतिपादित किया है कि स्वानुभूति द्वारा आत्मा का साक्षात्कार ही किया जा सकता है। आत्मन् शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में शंकराचार्य का एक प्राचीन श्लोक—

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चान्ति विषयानिह।

यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

Correspondence

डॉ. तीर्थानन्द मिश्र

एसोसियेट प्रोफेसर, राजकीय मीरा
 कन्या महाविद्यालय, उदयपुर,
 राजस्थान, भारत

उद्धृत किया जा सकता है। इसके अनुसार आत्मा जगत् के सारे पदार्थों में व्याप्त रहता है (आप्नोति) सारे पदार्थों को अपने में ग्रहण कर लेता है (आदत्ते) सारे पदार्थों को अनुभव करता है (अत्ति) और इसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है इसीलिए इसे आत्मा कहा जाता है। उपनिषदों में सर्वप्रमुख ईशोपनिषद् का –

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

वाक्य को देखा जा सकता है जिसके अनुसार विद्या अर्थात् आध्यात्मज्ञान और अविद्या अर्थात् भौतिक विज्ञान इन दोनों को जो एक साथ जानता है वह विद्या के द्वारा 'अमरता' को प्राप्त करता है। आत्मा के स्वरूप को जानने हेतु यह मंत्र निश्चयेन पथप्रदर्शक का कार्य कर सकता है कि मनुष्य को कोई भी कर्म करने से पूर्व यह सोचना चाहिए कि क्या यह कर्म उसे वहाँ तक पहुँचाने में सहायक है जहाँ पहुँचने हेतु उसे यह जन्म प्राप्त हुआ है? प्राचीन भारत के नभो मंडल की जाज्वल्यमान तारकावली में उपनिषद् वे सितारे हैं जिनका प्रकाश जीवनयात्रा की घनधोर अन्धकारपूर्ण रात्रि में हजारों सालों से जीवनयात्री का मार्ग प्रदर्शन करता रहा है। मैं किधर जाऊँ? मेरा सही रास्ता कौनसा है? अनेकों टेढ़े-मेढ़े रास्तों में से किस पर चलने से मैं अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकूँगा – यह प्रश्न जैसे नाचेकेता के हृदय में उठा, जैसे मैत्रेयी के हृदय में उठा, वैसे आज भी हर युवक-युवतियों के हृदय में उठता है, परन्तु आज के उत्तर से नाचेकेता और मैत्रेयी को भिन्न उत्तर मिला था और वे हमसे भिन्न मार्ग पर चले थे। यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि ऐसा नहीं था कि नचिकेता और मैत्रेयी उस मार्ग पर चल नहीं सकते थे जिस मार्ग पर आज का भौतिकवादी जगत् चलता जा रहा है। कठोपनिषद् में यमराज द्वारा ये ये कामा दुर्लभाः मर्त्यलोके सर्वाः कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्वः। शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्वं इमा रामाः सरथाः सत्त्या न हीदृशा लम्बनीया मनुष्यैः इत्यादि रूप में दिया गया एक-एक प्रलोभन- नचिकेता के लिए भौतिकता को अंगीकार करने हेतु पर्याप्त था। परन्तु उन्होंने उस मार्ग को यह कहकर छोड़ दिया- 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' अर्थात् मनुष्य की धन-धान्य से अन्तिम तृप्ति नहीं हो सकती है। 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति कित्तेन' वाक्य के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया कि वित्त से सांसारिक सुख भोग तो मिल सकते हैं, परन्तु जीवात्मा को जिस अमरता की तलाश है वह इससे प्राप्त नहीं होती। आत्मा की अमरता का यह संदेश भौतिकवाद के दल-दल में फँसे हुए हम लोगों के कानों में भी पड़ता है, हमारे जीवन में भी वह क्षण आता है, जब हम प्रकृति की तरफ नहीं बल्कि परमात्मा की तरफ मुँह उठाकर अनित्य में नित्य की तलाश करने लगते हैं, हम भी यह समझ जाते हैं कि 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' परन्तु तब तक बहुत देर हो जाती है और ऐसे समय इस तत्त्व को समझने का जीवन में हम क्रियात्मक लाभ नहीं उठा सकते। इस संसार में ऐसा कौन भौतिकवादी है जो संसार की चकाचौंध में सारी आयु गुजार देने के पश्चात् एक दिन यह नहीं देख लेता कि यह सब धोखा था, इसमें से कुछ भी साथ जाने वाला नहीं है, परन्तु जब उसकी आँखें खुली तो पछतावे के अलावा कुछ न मिला। जिसे नित्य मानकर उसने झूठ बोला, दुराचार किया, अत्याचार व लोगों का रक्त बहाया, वह सब तो एक भूल-भुलैया का गोरखधंधा था। वह वस्तु जिसकी उसे तलाश थी, जिसे वह जन्मजन्मान्तर से ढूँढ़ रहा था, उसे वह छू तक नहीं सका। यह भावना एक मनुष्य के जीवन में किसी न किसी समय साकार बनकर खड़ी हो जाती है। अध्यात्मवादी के जीवन में बहुत पहले, भौतिकवादी के जीवन में बहुत देर बाद सही किन्तु दोनों को ही उस निष्ठुर सत्य से सामना करना ही पड़ता है। इस आधारभूत सच्चाई को जिन्होंने जान लिया था उन्होंने दिग्दिगन्त में इसकी घोषणा कर दी थी-

'इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति न चेदवेदीत् महती विनष्टिः'। ऐसी घोषणा करने वाले प्राचीन भारत के ऋषि महर्षियों ने जिस सत्य का दर्शन किया था उसका नाम उन्होंने 'ब्रह्म' रखा था और संसार भर का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने हेतु जिस विद्या को उन्होंने जन्म दिया था उसका नाम 'ब्रह्मविद्या' रखा था। ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ ही उपनिषद् है।

उपनिषदों को समझने हेतु उपनिषदकारों के दृष्टिकोण को समझना जरूरी होगा। जैसे आज हर बात भौतिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर कही या लिखी जाती है ठीक उसी प्रकार उपनिषद् में आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर सब कुछ कहा तथा लिखा गया है। उपनिषद् के अनुसार सृष्टि सत्ता है, परन्तु उससे भी ज्यादा कोई दूसरी वस्तु सत् है, उस सत् की सत्ता से ही सृष्टि सत् है। अतः असली सत् यह नहीं वह है – वही ब्रह्म है, वही आत्मा है और इसी को जानकर मनुष्य अमर होता है। उपनिषद् की धारणा है कि जो इस दृष्टि को पा लेता है, वह जैसे हम इस सृष्टि को प्रत्यक्ष देखते हैं वैसे ब्रह्म को प्रत्यक्ष देखता है। इसका मतलब यह नहीं है कि देखने वाला स्थूल आँखों से ब्रह्म को प्रत्यक्ष देखने लगता है, बल्कि इसका मतलब है कि इन स्थूल आँखों से तो वह इस सृष्टि को ही देखता है, परन्तु उस सृष्टि की हर वस्तु को एक पर्दे के तौर पर देखता हुआ पर्दे के पीछे ओटवाले को भी देख लेता है। जैसे भौतिकवादी की यथार्थदृष्टि है, वैसे उपनिषद् के ऋषियों की भी यथार्थवादी दृष्टि है। इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को लेकर ही जगह-जगह उपनिषद् में कहा गया है कि यह सत् नहीं, वह सत् है, इन्द्रिय नहीं, मन, प्राण, आत्मा सत् है।

महर्षि बादरायण द्वारा लिखा गया 'ब्रह्मसूत्र' वेदान्त दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है। वेदान्त के व्यवस्थित और दार्शनिक रूप का प्रारम्भ 'ब्रह्मसूत्र' से ही होता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अथातो ब्रह्मजिज्ञासा कहकर ग्रन्थकार ने ब्रह्मस्वरूप के निर्धारण विषयक ग्रन्थरचना के विचार को प्रकट किया है। 'ब्रह्मसूत्र' नाम की सार्थकता इसमें है कि यहाँ परब्रह्म के स्वरूप की सम्पूर्ण व्याख्या हुई है। ब्रह्मसूत्र को 'वेदान्तसूत्र' शारीरकसूत्र तथा उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ के चार अध्यायों में से प्रथम अध्याय में हमें ब्रह्म के स्वरूप एवं इस दृश्यमान जगत् के साथ उसके सम्बन्ध का वर्णन मिलता है। ब्रह्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मा ही जगत् का उद्भवस्थान, आधार तथा अन्त है जो विश्व का निमित्त तथा उपादान कारण भी है। वह बिना साधनों के सृष्टि रचना करता है। वस्तुतः उसके अन्दर सब धर्म ओत-प्रोत है और वही आन्तरिक विधान का प्रथम प्रदर्शक है। उसमें निर्मलता, सत्यार्थ, सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण विद्यमान हैं। समस्त पदार्थों का परम अधिष्ठान एक मात्र सर्वोपरि आत्मा है और वही प्रत्येक पदार्थ का स्रोत तथा एकमात्र यथार्थपूजा और श्रद्धा के योग्य है। ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध में यह कहा गया है ये परस्पर भिन्न नहीं हैं वैसे ही जैसे कि मिट्टी का पात्र मिट्टी से भिन्न नहीं है। यद्यपि टीकाकार इस विषय में सहमत हैं कि कारण कार्य से भिन्न नहीं है तो भी ब्रह्म तथा जगत् के तादात्म्य की उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। ब्रह्म तथा जगत् के परिवर्तन की व्याख्या के लिए शंकर ने अविद्या की कल्पना की है अर्थात् जगत् का अस्तित्व ऐसे व्यक्तियों के लिए है जो अविद्या के प्रभाव में हैं। जैसे कि कल्पनात्मक सर्प का अनुभव ऐसे ही व्यक्तियों को होता है जिसे रस्सी के विषय में भ्रम हुआ हो। वादरायण के अनुसार ब्रह्म जीवात्मा के अन्दर है परन्तु ब्रह्म के स्वरूप पर जीवात्मा के स्वरूप का कोई असर नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्य से अभिन्न है और जिस प्रकार सूर्य के धनाछिन्न हो जाने पर भी सूर्य पर उसका असर नहीं होता, उसी प्रकार जब जीव दुःख भोगता है तो ब्रह्म दुःख का भागी नहीं होता है। शरीरधारी आत्मा कर्म करती है और सुख भोगती है तथा पुण्य और पाप का संचय करती है और सुख व दुःख में लिप्त होती है, किन्तु सर्वोपरि आत्मा का स्वभाव इसके विपरीत है

अर्थात् वह सब प्रकार की बुराई से परे हैं। तत्त्वमसि और 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्य यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि दोनों अर्थात् ब्रह्म और आत्मा यथार्थ में एक हैं और यदि ब्रह्म सबका कारण है तो वह जीवात्मा का भी कारण है। शंकर के मतानुसार ब्रह्म पूर्ण तथा अविभक्त रूप में जीवात्मा के आकार में विद्यमान रहता है। ब्रह्म सूत्र के अनुसार नैतिक साधना तथा उपासनादि के द्वारा पर ब्रह्म की प्राप्ति संभव है। ब्रह्मज्ञान हो जाने की स्थिति में उन कर्मों का जिन्होंने फल देना अभी प्रारम्भ नहीं किया है, नाश हो जाता है किन्तु शरीर तब तक विद्यमान रहता है जब तक कि वे कर्म जो फल देना आरम्भ कर चुके हैं पूर्णतया शेष नहीं रह जाते।

गीता का प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त है जो सत् है उसका अभाव नहीं हो सकता और जो असत् है उसका भाव नहीं हो सकता – नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। इस आधार पर शरीर नश्वर है और आत्मा नित्य है, अतः वह शरीर के साथ नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने वस्त्र को त्यागकर नया वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर नये शरीर में प्रविष्ट होता है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय, जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

गीता में ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों ही रूपों का प्रतिपादन किया गया है और ये दोनों ही गुण उस एकमात्र अभिन्न ब्रह्मतत्त्व के हैं।

ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का उपादान तथा निमित्तकारण माना गया है। वह शुद्ध, चैतन्य, अखण्ड और आनन्द है। अन्तर्यामी रूप में वह सारी प्रकृति और समस्त प्राणियों में वास करता है।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

गीता परमेश्वर की अपरा एवं परा इन दो प्रकृतियों का वर्णन करती है। अपरा प्रकृति—जड़ प्रकृति है जिसके भीतर समस्त भौतिक पदार्थ विद्यमान हैं जबकि परा प्रकृति में चेतन जीवों की गणना है। चेतन जीवों की अन्य संज्ञा 'क्षेत्रज्ञ' और अक्षर पुरुष भी है। चैतन्य रूप होने से जीव ईश्वर की उत्कृष्ट प्रकृति अथवा विभूति है। जीव ईश्वर का सनातन अंश है— ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

अपरा अथवा जड़ प्रकृति और पराप्रकृति अथवा जीवात्मा इन दोनों पुरुषों के ऊपर पुरुषोत्तम है और वह पुरुषोत्तम ही परमतत्त्व है और यही जड़ प्रकृति और चेतन जीव दोनों की आत्मा है और दोनों में अनुस्यूत होकर उनका नियमन भी करता है।

गीता में जीवात्मा का परमात्मा से मिलन रूप फलप्राप्ति के लिए तीन योग मार्गों का उल्लेख किया है जहाँ योग का शाब्दिक अर्थ मिलन अर्थात् 'जीवात्मा का परमात्मा के साथ मिलन' से है। इनका मिलन इस प्रकार का हो जाता है जहाँ द्वैत की भावना समाप्त हो जाती है और केवल अद्वैत ही शेष रह जाता है। यहाँ योग में दुःख को आत्यन्तिक वियोग एवं अखण्डानन्द से अत्यधिक संयोग होता है। ज्ञान, कर्म तथा भक्ति ये तीनों योगमार्ग समान हैं जिसकी स्वाभाविक रुचि जिस मार्ग में हो उसे उसी मार्ग का चयन करना चाहिए।

ज्ञान के अभाव में योगी आत्मसाक्षात्कार रूपी स्वलक्ष्य को कथमपि प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् अपने भक्तों पर कृपा करके ज्ञानयोग प्रदान करते हैं जिससे परमपद की प्राप्ति में उन्हें सहायता मिलती है ददामि बुद्धिर्योगं तं ये मामुपयान्ति ते।

इसी ज्ञानाग्नि में जीव अपने समस्त कर्मों को भस्म कर देते हैं। इस तरह गीता के अनुसार कर्म की परिसमाप्ति ज्ञान में ही होती है। ज्ञान के समान पवित्र अन्य कुछ भी नहीं है। भगवान् ने स्वयंज्ञानी को अपनी आत्मा कहा है। ज्ञान निष्ठा की परिपूर्णता के दो रूप हैं – प्रथमतः समस्त जगत् की चेतनाचेतन वस्तुओं में भगवत् तत्त्व का अवलोकन। द्वितीयतः भगवान् या आत्मा में समस्त विश्व का दर्शन। गीता में प्रतिपादित कर्मयोग का ज्ञानयोग से कोई विरोध नहीं है अपितु गीता का निष्काम कर्म ज्ञानी द्वारा ही सम्पादित हो सकता है। देहधारी प्राणी के द्वारा कर्मों का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण लोक कर्मों से बंधा है क्योंकि प्रकृति के त्रिविध गुण प्राणियों को कर्म के लिए विवश करते हैं। गीता में कर्म योग में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का अद्भूत समन्वय प्राप्त होता है इसीलिए गीता कर्म का निषेध नहीं करता अपितु कर्म में फलासक्ति या कामना का निषेध करता है। वासना, कामना, आसक्ति अथवा फलाकांक्षा ही वह निषेधक है जो कर्ता के बंधन का कारण है और इसी कामना के अभाव में पुरुष संसार से मुक्त हो जाता है।

गीता में प्रतिपादित कर्मयोग 'नैष्कर्म्य' अथवा कर्म निषेध नहीं है अपितु कामनारहित कर्म अर्थात् 'निष्काम' कर्म है। यहाँ संन्यास से तात्पर्य कामनाओं के त्याग से है। गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म ज्ञान और भक्ति दोनों से अनुप्राणित है। निष्काम कर्म ज्ञानी के लिए है, साधारण जन के लिए नहीं। प्रारम्भ में यदि कर्म के लिए कामना आवश्यक ही हो तो समस्त लौकिक कामनाओं का त्याग करके साधकों को केवल आध्यात्मिक उन्नति की कामना से कर्म करने चाहिए। भगवत्प्रीति के लिए भगवदर्पणबुद्धि से कर्म करने से आध्यात्मिक उन्नति होती है और कर्मों द्वारा बंधन भी नहीं होता है जैसे कमलपत्र जल में रहते हुए भी जल में लिप्त नहीं होता। पूर्णतया निष्कामकर्म जीवनमुक्त सिद्ध पुरुष के लिए ही संभव है क्योंकि सिद्ध पुरुष का कोई स्वार्थ नहीं होता।

गीताज्ञान का सार भक्ति है अथवा भक्ति गीता का हृदय है और यह भक्ति ज्ञान और कर्म से अनुप्राणित है। भक्ति, ज्ञान और कर्म का भेद लौकिक व्यवहार में ही है क्योंकि अपनी चरम अवस्था में ये अपरोक्षानुभूति अर्थात् आत्मसाक्षात्कार में परिणत हो जाते हैं। लौकिक ज्ञान बुद्धि विकल्प जन्य है जो ज्ञातज्ञेय द्वैत पर टिका है वहीं अन्यत्र परज्ञान अद्वैत निर्विकल्पक अनुभूति है। भक्ति का सामान्य अर्थ भगवान् का भजन, सेवा, स्मरण है और यह भी भक्त और भगवान् के द्वैत पर टिकी है किन्तु पराभक्ति अखण्डानन्दस्वरूप है जिसमें भगवान् और भक्त एकाकार हो जाते हैं। लौकिक कर्म में कामना बनी रहती है और यह कर्तृकर्म द्वैत पर टिका है जबकि निष्काम कर्म कामनारहित और कर्तृत्वाभिमानशून्य होने से जीव-मुक्ति की अद्वैतस्थिति का परिचायक है।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि प्रस्थानत्रयी में यह मेरा, यह तेरा वाली प्रवृत्तियों का खण्डन कर उसके स्थान पर अद्वैतभाव का दर्शन कराया गया है और अद्वैत के दर्शन मात्र से जन्म, जरा, मृत्यु रूप दुःख के कारण स्वरूप अहंकारात्मक अविद्या का खण्डन हो जाता है। अविद्या के नष्ट हो जाने पर पुरुष स्वतः ही आचार पथ की ओर अग्रसर होकर उस परमपद को प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता – निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1912
2. भारतीय दर्शन – राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली, 1986।
3. एकादशोपनिषद् – विजय कृष्ण, लखनपाल, उब्ल्यू 77ए, ग्रेटर कैलाश नई दिल्ली, 1996।
4. सांख्यतत्त्वकौमुदी – मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1989।
5. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य – निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1917

6. वृहदारण्यकपनिषद् – आनन्द आश्रम, पुणे, 1902
7. वेदान्त परिभाषा – चौ. वि. भवन, काशी, 1963